पुस्तक के पन्नों से

9

शिक्षक हों तो*

गिजुभाई बधेका

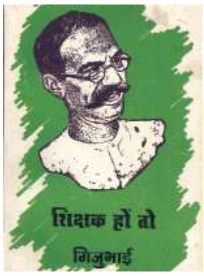

सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् गिजुभाई बधेका ने शिक्षण को लेकर नए-नए प्रयोग किए। उन्होंने शिक्षा और बच्चों को लेकर अनेक किताबें लिखीं। ये पुस्तकें शिक्षकों का मार्गदर्शन करती हैं। इन्हीं में से एक किताब है-'शिक्षक हों तो'। इसी किताब से तीन अंश यहाँ दिए जा रहे हैं-

बच्चों के साथ बातचीत

बच्चे बालमंदिर में आते हैं, संगीत की कक्षा में बैठते हैं, मोंटेसरी के उपकरणों पर काम करते हैं, विभिन्न खेल खेलते हैं, कहानी, लोकगीत व आदर्श वाचन सुनते हैं, नाटक देखते हैं, नाश्ता लेते हैं और घर लौट आते हैं, काम अच्छी तरह से चलता है और बच्चे आगे बढ़ते हैं, लेकिन अगर इनमें एक काम रह जाए तो इतने सारे काम होने के साथ एक महत्वपूर्ण काम नहीं हो पाया, यही कहा जा सकता है। यह एक काम है बच्चों के साथ हमारी बातचीत।

बच्चे अंदर ही अंदर बातचीत करके अपनी अनेक भ्रांति की ज़रूरतें तृप्त कर लेते हैं, एक-दूसरे के संपर्क में आकर आपसी लाभ उठाते हैं, पर इसके अलावा उन्हें हमारे प्रत्यक्ष परिचय की, हमारे साथ बातचीत करने की भी ज़रूरत पड़ती है। बड़ों के पास बैठकर अपनी छोटी-छोटी बातें सुनाना उन्हें पसंद आता है। बच्चों में अपने संबंध में दूसरों को बातें बताने की एक स्वाभाविक वृत्ति होती है। इसी के द्वारा बच्चों को यह संतोष व आनंद मिलता है कि दूसरों के बीच उनकी गिनती है। अपने निजी आनंद में दूसरों को सहभागी बनाने की मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति के कारण बालक स्वयं जो आनंद अनुभव करते हैं, उनकी तरह-तरह की बातें बड़ों को सुनाने के लिए वे उनके पास दौड़े चले जाते हैं। पसंद न आने वाली बातें दूसरों को बताने से उन्हें आराम मिलता है, मन में भरी हुई बातों को स्वजनों के सामने व्यक्त कर देने से उनका दिल हल्का होता है। पराये

* पुस्तक *शिक्षक हों तो* से साभार (प्रकाशक- मोंटेसरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर, चुरू)

लोग अपने हैं तभी तो अपनी बात सुनते हैं, इस विचार में एक तरह की शांति है। ये सब बातें बड़े या छोटे बातचीत के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। दूसरों के संबंध में अपनी राय, तरफदारी या विरोध बातचीत के द्वारा ही प्रकट किए जा सकते हैं। ऐसे-ऐसे कारणों से बच्चे घर में बड़ों के साथ, बड़े भाई-बंधुओं के साथ बातचीत करने को स्वत: प्रेरित होते हैं। शाला में या घर-बाहर भी वे बातचीत करने का अवकाश ढूँढ़ते रहते हैं।

जिस प्रकार से बच्चे को अपने विकास के निमित्त बातचीत करने की ज़रूरत पड़ती है, उसी प्रकार हमें भी शैक्षिक दृष्टि से उनका अध्ययन करने के लिए उनसे बातचीत करनी चाहिए। ज़रूरत भिन्न-भिन्न दृष्टि से है, फिर भी दोनों के लिए एक ही व्यापार स्वीकारने की आवश्यकता है। हमारा स्वतंत्र विद्यालय एक प्रयोगशाला है। बच्चे का अवलोकन करना इसका प्रमुख व्यवसाय है। संगीत, खेल आदि प्रवृत्तियों के द्वारा एक तरह का अवलोकन होता है, बातचीत अवलोकन का एक विशेष साधन है। बच्चे बातचीत में जब खुलते हैं तो अपने विचार पूर्णत: प्रकट करते हैं। बातचीत के द्वारा हमें बालक की पसंद-नापसंद का पता चलता है, उनसे हम उनकी भाँति-भाँति की प्रवृत्तियों के हेतुओं को जान सकते हैं। बच्चे के मित्र-अमित्र कौन हैं और जिन कारणों से हैं, किनके बिना उनका काम चलता नहीं, कौन उनका सच्चा मार्गदर्शक है और कौन किसके कितना अधीन है और अपने अधीन है, ये सारी बातें बातचीत के द्वारा ही जानी जा सकती हैं। आज वह घर के कैसे वातावरण से आया है, भीतर से प्रसन्न है या अप्रसन्न, आदि बातें भी बातचीत के द्वारा जानी जा सकती हैं। अलग-अलग लोगों के प्रति उनकी भावना, वस्तु के प्रति चाह व समझ, विभिन्न घटनाओं का उसके मन में कैसा अर्थ है, अलग-अलग प्रसंगों की उसके मन पर कैसी छाप पड़ी हुई है, उसकी सत्य-असत्य की, पाप-पुण्य की कल्पना कैसी है, ये सब बातें बातचीत के द्वारा ही हमारे सामने आती हैं।

बातचीत से एक दूसरा लाभ भी है। सामान्यतया बच्चे बड़ों से डरते हैं, बड़ों ने भी अपने से उन्हें डराया होगा। पिता से डरने वाले बच्चे घर के बाहर आते ही मास्टर, पुलिस या पिता जैसे लगने वाले व्यक्तियों से भी डरते हैं। इसी से स्वतंत्र वातावरण में भी बच्चा शिक्षक से डरता हुआ देखने में आता है। वह उनमें विश्वास नहीं करता, उनसे दूर भागता है, उससे अपनी ज़रूरत की चीज माँगने में संकोच करता है। बातचीत का प्रसंग ऐसा है कि बच्चे धीरे-धीरे दूसरों के सामने अपनी बातें रखते हैं।

कई बच्चे मूलत: शर्मीले होते हैं। दूसरों से कम बोलना या न बोलना ये उनकी विशेषताएँ होती हैं। जहाँ सब बच्चे शिक्षकों के साथ बातचीत करते देखने में आते हैं, वहाँ ऐसे बच्चे व्याकुल-से एक कोने में जा बैठते हैं। जब शिक्षक बच्चों की भोली-भाली बातों को 'हाँ' 'हूँ' करके प्रेमपूर्वक, मधुर-स्वाभाविक हास्य के साथ सुनता है, तो बाल-हृदय के कपाट खुल जाते हैं, उसका अंत:प्रवाह शिक्षक पर ढुलकने लगता है और शिक्षक के कानों

व हृदय को भरकर उसे खुश कर देता है। बच्चे शिक्षक की आँखों में आँखें पिरोकर तथा प्राणों से प्राण मिलाकर अपनी गुप्त और जाहिर, मूर्खता की और बुद्धिमानी की, सही और गलत करने की, चोरी और साहूकारी की, माँ की और पिता की सारी की सारी बातें कह देता है। इससे शिक्षक का काम सरल बन जाता है। बच्चा उसके नजदीक आते ही अधिक से अधिक अभिमुख बन जाता है, शिक्षक जो कुछ भी करता है वह उसे प्रिय लगता है, उसे अपने हृदय में कहीं गहरे ऐसा आभास होने लगता है कि शिक्षक जो कुछ करता है उसके भले के लिए करता है।

बातचीत के द्वारा शिक्षक बच्चे के दिल की गहराई में जा सकता है, साथ ही साथ बच्चे की भाषायी कमियों तथा उसकी असंस्कारिता आदि को भी जान सकता है। रोज़ाना बातचीत करने की आदत डालने से बालक का भाषा परिचय बढ़ता है, विचारों को संजोने एवं व्यक्त करने की विधि पुष्ट बनती जाती है तथा साथ-साथ भाषा के प्रयोग के द्वारा संस्कारी जीवन को तथा रसिक एवं सभ्य वृत्ति को कैसे प्रकट किया जाए, इसकी तैयारी भी होती जाती है।

बातचीत का सामूहिक प्रसंग एकाकी बालकों को सामूहिक जीवन सुलभ कराता है। समूह के बीच बातचीत करते समय बच्चे को अपनी बात फटाफट कह डालने के जल्दबाजी-स्वभाव पर नियंत्रण करना पड़ता है। वह सभ्य शब्दों का व्यवहार करना सीखता है। वह इसी भावना से दूसरों की बातें सुनता है और उनमें बाधा नहीं डालता कि लोग उसकी बात को भी इसी भावना से सुनें तो बेहतर रहे। बातचीत के विभिन्न विषयों से उसका क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, साथ ही बातचीत के द्वारा अवलोकन तथा अनुभव के क्षेत्र भी उघड़ते जाते हैं।

इस तरह बातचीत से अनेक लाभ होते हैं। सुव्यवस्थित बातचीत के परिणामस्वरूप अभिमुखता और अनुशासन-व्यवस्था के अनेक प्रश्नों का समाधान होता जाता है। दिन भर में एकाध ऐसा मौका आना ही चाहिए। किंडर गार्टन शाला में इसे 'वार्तालाप मंडल' कहा जाता है। डॉ. मांटेसरी ने भी इसका समर्थन किया है। हमारा अपना अनुभव भी इसकी आवश्यकता को स्वीकारता है।

बातचीत करने वाला शिक्षक कैसी बातचीत चलाए, यह भी जान लेना चाहिए। बच्चों ने क्या खाया, क्या पीया, घर में क्या-क्या खेल खेले, किन-किन दोस्तों से कैसी-कैसी बातें कीं, घर में कैसे मन रमा आदि बातें शिक्षक को करनी चाहिए। इसके बाद में बच्चे के शरीर एवं कपड़ों की साफ-सफाई, अपने मंदिरों, चीजों को सँभाल कर रखना, व्यवस्था, स्वच्छता आदि बातें चलें। मंदिरों में क्या अच्छा लगता है क्या नहीं लगता, नयी चीजें क्या-क्या चाहिए और क्या-क्या नहीं चाहिए। इन संबंधों में बातचीत होनी चाहिए। कोई दुर्घटना घट जाए तो बातचीत चले। चाही-अनचाही घटनाएँ घटने पर बातचीत का अवसर निकल जाना चाहिए। त्योहारों के दिन, उनसे अगले दिन, पिछले दिन, ग्रहण आदि के बारे में भी बातें की जा सकती हैं। सर्दी के मौसम में कड़कड़ाती ठंड की, गर्मी

में जलाने वाली धूप की, वसंत ऋतु में पक्षियों के चहचहाहट की और नव पल्लवित वनस्पति की, पतझड़ में झड़े हुए पत्तों की, वर्षाकाल में नए-नए जीवों, मेंढ़कों, पतंगों, आदि-आदि की बातें की जानी चाहिए। इन बातों में बड़े पांडित्य और पाठ का उपदेश या व्याख्याता वाली गंभीरता नहीं होनी चाहिए। पर हाँ, इनमें प्रकृति का थोड़ा बहुत परिचय तथा वैज्ञानिक ज्ञान की थोड़ी-बहुत तराश होनी चाहिए। भाषा का अच्छा परिचय तो हो ही। चतुर शिक्षक को ऐसे अवसर पर पढ़ाने का लोभ नहीं करना चाहिए। बेशक, वह ज्ञान के बहुविध मार्गों को उघाड़ सकता है।

बातचीत में शिक्षक बनावटी न बनें। बातचीत के बनावटी अवसर न खोजें। सहज ही जो प्रसंग आ जाए, उसका लाभ उठा ले। यह मान कर न चले कि रोज बातचीत चलानी ही है। वह हर वक्त बच्चों की बातचीत को प्रोत्साहित करे। बच्चों की ही बातें अधिक हों, हमारी बातें तो जरूरत के मुताबिक हों। कहीं अध्यापक बच्चों को बातूनी न बना दें। उसे यही देखना है कि बातचीत के द्वारा प्राप्त ज्ञान को बालक गले उतारना सीख गया या नहीं। बनावटी प्रोत्साहन देने की ज़रूरत नहीं है। इस बात का खास ध्यान रखा जाए कि बातचीत का प्रसंग कहीं घर की शिकवे-शिकायतें न बन जाए। इन्हें लेकर बच्चों को उकसाने का मौका न मिले। क्योंकि बच्चों में परस्पर शिकायतें करने की आदत होती है। कहीं बातचीत का यह स्थल इनमें पोषण का स्थल न बन जाए और हाँ, न्यायालय भी न बने। माता-पिता के बारे में बच्चे ज्यादा बातें करे या घर की गहरी बातें करे तो उनको प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। बच्चे अपनी ही बातें करें और हम उनका ही अध्ययन करें। उससे सारांश निकाल कर हमें बालकों व उनके माता-पिता के लिए कोई रास्ता सुझाना चाहिए। जहाँ बच्चों के सामने हमें अपना अभिप्राय प्रकट करना जरूरी न हो, वहाँ नहीं करना चाहिए। यह ध्यान रहे कि बातचीत में बच्चों की रंचमात्र भी निंदा या स्तुति न की जाए। संक्षेप में, उक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बातचीत की जानी चाहिए।

गलती न निकालें

बाल-मंदिर में एक मेहमान आए। चित्रकला में उनकी थोड़ी-बहुत गति होगी। मैंने उनसे कहा, ''घूमिए और देखिए कि बच्चे क्या करते हैं। आपको अपने-आप पता लग जाएगा कि स्व-शिक्षण का काम कैसे चल रहा है। बस, इतना ध्यान रखिए कि बच्चों को आप हिदायतें न दें, और गलतियाँ तो हर्गिज़ न निकालें।''

वे घूमने लगे। एक बच्चा वाटर-कलर कार्य करने लगा। उसने बक्सा, ब्रुश और पानी की बाटकी ली। बक्सा खोला और कागज को टेबिल पर रखा।

वे सज्जन मेरे पास आए और उन्होंने कहा, ''बक्सा साफ होना चाहिए, उनमें रंग लगे हुए होने से वे रंग दूसरे रंगों को खराब करेंगे। बच्चे से रंगों को साफ करने को कहा जाना चाहिए।''

मेरे मन में धीरज था। मैंने कहा, ''देखिए, वह क्या करता है।''

इतने में बच्चा उठा और उसने गीले कपड़े का टुकड़ा लाकर बक्सा साफ किया, ब्रुश को धोया और रंग बनाने लगा।

मुझे उन सज्जन को कुछ भी कहना न पड़ा। पता नहीं उन्होंने इस पर गौर किया था या नहीं। पर इस संबंध में वे मूक ही रहे।

बच्चे ने एक पत्ती में नीला रंग भरा। रंग भरते समय बच्चा एकाग्र व खुश था। एक बड़े चित्रकार जैसी गंभीरता और स्थिरता उसमें थी। अपने हिसाब से वह एक महान् सृजनात्मक कलाकृति बनाने बैठा था।

वे सज्जन उस बच्चे के पास गए और बोले, ''नीले रंग से भरी गई इस पत्ती में लहरें पड़ी हैं। बच्चे को यह बताना चाहिए कि रंग भरते समय उसमें लहरें न पड़ें। उसे रंग को बीच में नहीं छोड़ना चाहिए। एक किनारे से रंग को नीचे उतारते जाना चाहिए। अगर बच्चे यह विधि नहीं अपनाएँगे तो रंग करना उन्हें आएगा नहीं।''

मैं धैर्य से सुनता रहा। उनका मान रखते हुए मैं कुछ नहीं बोला।

वे जो बोल रहे थे, उसे चित्र बनाने वाले बच्चे सुन रहे थे।

वे मेरे पास से उन बच्चों के पास गए और किसी एक से कहा, ''ब्रुश को ऐसे नहीं, ऐसे पकड़ना चाहिए।''

बच्चों ने चित्र बनाना बंद कर दिया। उनका मुँह उतर गया, वे निराश हो गए।

मैं तो वहाँ से अपना काम करने चला गया। थोड़ी देर बाद बच्चों ने मेरे पास आकर जरा संकोच और हास्य के साथ मुझसे कहा, ''वे सज्जन हमारी गलतियाँ निकालते हैं। कहते हैं कि लहरें पड़ जाएँगी और ऐसा हो जाएगा। इसलिए चित्र बनाना अब हमें पसंद नहीं। हम चित्र नहीं बनाएँगे।''

मैंने कहा, ''ठीक है, मत बनाओ।''

बच्चे वहाँ से चले गए।

उन सज्जन से मैंने बात की तो उन्होंने कहा, ''गलती क्यों न निकालें? गलती नहीं निकालेंगे तो फिर बच्चे सुधारेंगे कब?''

मैंने उत्तर दिया, ''आपने उनकी गलती निकाली, जिसका सीधा परिणाम तो आपने अपनी नजरों के सामने ही देख लिया। बच्चों ने काम करना ही बंद कर दिया। उनके मन में आपके प्रति अनादर का भाव आ गया। अब उनकी त्रुटि सुधरी या नहीं, यह तो और बात है, पर काम करना तो बंद हो ही गया ना! काम करने का उनका आनंद भी जाता रहा। आज के दिन की चित्र-प्रवृत्ति का तो भोग लग गया और आज के दिन जो कुछ उनका विकास होता, वह रुक गया।''

मैंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, ''हमें काम करते हुए बच्चे का सिर्फ अवलोकन करना चाहिए। अगर हमें लगे कि उनके काम करने की रीति में या साधन में कोई दोष है या त्रुटि है तो हमें पता लगाना चाहिए कि वह किस कारण से है और उस कारण को हमें दूर करना चाहिए। उदाहरण के लिए बच्चे की पेंसिल अच्छी तरह से निकाली हुई नहीं है और उससे लाइन खराब आती है या कागज अच्छे किस्म का न होने से उस पर रंग फैल जाए, तो हमें कागज व पेंसिल को बदलना चाहिए।''

इसके बाद मैंने उनसे कहा ''अगर बच्चे के काम में पूर्व तैयारी की अपरिपक्वता के कारण कभी कमी दिखे, तो उसकी त्रुटि निकाले बगैर जो काम पहले पक्का होना चाहिए था और

जो बराबर हुआ नहीं, उसे पहले पूरा करने देना चाहिए। उदाहरण के लिए रंग भरने के काम में बच्चे को अधूरा ज्ञान हो। जहाँ पर एक बराबर रंग भरा हो वहाँ बराबर एक-सरीखे रंग न भर सके, एक में नीला रंग भर जाता है और दूसरे में उससे भिन्न दूसरा रंग भर जाता है, तो ऐसे में उसे रंग की तख्तियों पर काम करने बिठाना चाहिए। जब यह काम पूरा हो जाएगा तो उसकी आँखें स्वतः रंग-संबंधी अपनी भूल को ठीक कर लेंगी। और फिर गलती होने का अर्थ यह है कि बच्चे अभी पूर्णता के मार्ग पर हैं, संतुलन लाने की कोशिश में हैं। भूल को सुधारने से संतुलन नहीं आएगा। इसके लिए बच्चे को अपने-आप प्रयत्न करके अपनी अपूर्णता को पूर्ण कर लेने दो। अगर बच्चे को ऐसा करने की छूट होगी, टोका-टोकी नहीं की जाएगी, उसमें अविश्वास नहीं होगा, तो भले ही उसे हजार बार दोहराना पड़े, पर वह पूर्णता प्राप्त करेगा ही करेगा। पूर्णता प्राप्त करना व्यक्ति का स्वभाव है। अगर इस तथ्य में हमारा विश्वास है तो बच्चे को भूल करने के लिए मुक्त छोड़ा जा सकता है।"

''इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि पूर्ण क्या है, अपूर्ण क्या है, भूल-सहित क्या होता है- ये बातें बच्चे को बताई ही न जाएँ। हम उनके सामने अच्छा आदर्श रखें, पर गलती न निकालें। गलती निकालने का अर्थ यह है कि हम बच्चे को हल्का और अज्ञानी मानते हैं। गलती निकालने का हमारा कारण यह है कि हम उस गलती को सहन नहीं कर पाते । इसमें हमारे अपने धैर्य की कमी है। गलती निकालने से बच्चे में अपने प्रति अविश्वास और हमारे प्रति क्रोध पैदा होता है। जहाँ कहीं भी गलती निकाल कर उपदेश दिया जाता है वहाँ यही होता है।''

''पर जहाँ आदर्श पेश करना हो वहाँ भी उपदेश जैसी बात न हो, गलती निकालने या किसी व्यक्ति के काम की निंदा करने जैसा कुछ न हो। भई, ऐसा करने से काम सुंदर होता है, ऐसा करने से काम बनता है- इस तरह बताने -कहने से जिस-जिस बच्चे को जिस-जिस चीज़ की जरूरत होती है वह राजी-खुशी अपने आप ले लेता है। उसे पता भी नहीं चलता कि कब तो उसने काम अपने हाथ में लिया था, और कब बिना त्रुटि के उसका काम पूरा हो गया। आँखों के समक्ष सुंदर आदर्श रहता है तो काम के प्रति बच्चे सहज रहते हैं और उसको प्रयत्नपूर्वक करते-करते वह सिद्धि हासिल कर लेते हैं। उसे अपने काम करने में आनंद आता है और भीतर यह विश्वास पैदा होता है कि किसी ने उसे सिखाया भी नहीं था।''

अतएव बच्चे को गलती बताने के बजाए उसे कोई अलग प्रसंग लेकर बताना चाहिए कि किसी काम को बहुत अच्छी तरह से कैसे किया जा सकता है। इससे बच्चा अपने आप शक्ति प्राप्त करेगा और अपनी अपूर्णता को दूर हटा देगा।

मना करने की निडरता

कुछ बच्चे इतने निडर देखने में आते हैं कि अगर हम उनसे पूछें, ''संगीत में आओगे?'' तो जवाब देंगे, ''नहीं।'' अगर पूछें, ''चित्र बनाओगे?'' तो कहेंगे, ''नहीं।'' ऐसे बच्चे 'ना' क्यों कहते हैं, क्योंकि इनका कारण उनके पास

होता नहीं। 'ना' के सिवा कोई अन्य कारण उनके पास होता तक नहीं। 'ना' कहने की उनमें आदत पड़ जाती है। संगीत पसंद न हो और 'ना' कहें तो ठीक, चित्र बनाना पसंद न हो और 'ना' कहें तो चलेगा, लेकिन क्या पसंद है और नहीं, इसका पता ही न चले और बच्चे मना करते जाएँ, तो उसका क्या करें?

अगर हम उनकी 'ना' को चलने दें और वे जो न करने को कहें, वह उनसे न कराएँ तो क्या इसे उचित कहा जाएगा? ऐसा करने देने में क्या उन्हें स्वतंत्रता दी गई, ऐसा दिखेगा? अथवा उनकी 'ना' को अनसुना करके जिस काम के लिए वे 'ना' कहें, वह काम उनसे जबरन कराएँ तो क्या यह समझा जाएगा कि उनकी स्वतंत्रता छीनी गई?

कई बार बच्चे इस तरह के भी होते हैं, जिन्हें हम बिगड़े (स्पोइल्ट) कहा करते हैं। कोई चीज किसी व्यक्ति को पसंद न आए तो बच्चे सचमुच 'ना' कह देते हैं, लेकिन उसके बाद तो वे 'ना' कहने के रास्ते पर ऐसे चढ़ जाते हैं कि इसके कारण उनमें इंकार करने की बुरी आदत पड़ जाती है। कई बार दूसरों को 'ना' बोलते देखकर वे उनका अनुकरण करते हैं। वे समझते भी नहीं कि दूसरे बच्चे 'ना' क्यों बोल रहे हैं। कई बार कुछेक बच्चों को इंकार करने का ऐसा अनुभव हो जाता है, कि उसके बाद तो वे अपने उस अनुभव को सर्वत्र प्रयोग करते हैं और हर जगह 'ना' बोलते रहते हैं।

कई बच्चों की ऐसी धारणा ही बन जाती है कि उनसे कुछ नहीं हो सकता। किसी बात के लिए 'हाँ' बोलना, यानी बहुत बड़ी जानकारी और ज्ञान की ज़रूरत! अपने प्रति उनमें इतना अधिक अविश्वास होता है कि 'ना' बोलकर छूट जाते हैं। 'ना' बोलने के पीछे उनका यह आशय नहीं होता कि आज्ञा नहीं मानी जाए, बल्कि वे अपनी असमर्थता को बताना नहीं चाहते। इसलिए इंकार करके खड़े रह जाते हैं।

कई बच्चों को 'ना' और 'हाँ' के परिणाम का पता नहीं होता। 'हाँ' कहने से क्या होगा, इसका निश्चित पता न होने के कारण उन्हें 'ना' की शरण लेना ठीक लगता है।

ऐसा नहीं है कि केवल बच्चों में 'ना' बोलने की आदत होती है, बल्कि बड़े आदमियों में भी यही बात देखने में आती है। वे कहते हैं कि 'बस, अमुक चीज तो मुझे भाती ही नहीं। यह तो मैं हर्गिज नहीं खाऊँ!' हम ज़रा उनसे पूछें कि, 'किसी रोज़ खाकर भी देखी है?' तो जवाब देंगे, ''पर भाती नहीं है, तो क्या करूँ?'' हम कहेंगे, 'एक बार खाकर तो देख लो।' तो कहेंगे, ''भाएगी नहीं, तो?''

इस तरह से मना करने वालों को सही रास्ते पर लाया जा सकता है। मना करने के पीछे खास तौर से जो कारण हो, उसे ढूँढ निकालना है। जो देखा-देखी इंकार करते हैं उन्हें 'हाँ' के वातावरण में रखना होगा। अशक्ति के कारण जो मना करें उन्हें ऐसे काम सौंपे जाएँ, जो उनसे हो सकें। ऐसा निर्णय करके ही काम सौंपने की 'हाँ' लेनी चाहिए। जिनका आत्मविश्वास समाप्त हो गया हो, उनको ऐसे काम सौंपें जाएँ कि जिससे उन्हें लगे कि वस्तुत: मना करने का तो कोई कारण ही नहीं था। उन्हें यह भरोसा दिलाना होगा कि 'ना' कहना उनकी भूल थी।

अगर मना करने के पीछे मास्टरजी का भय, असफलता की चिंता या उपहास जैसा कोई विचार हो तो उन्हें विश्वास दिलाना होगा कि वह सब नहीं होगा। ऐसा विश्वास तो उन्हें दूसरों के उदाहरण से ही, यानी उचित वातावरण में रखकर ही दिया जा सकता है, लेकिन इनके बावजूद अनेक बच्चे जल कमलवत् रहते हैं। उनकी निडरता उग्र होती है। उन्हें 'हाँ' कहने में भी जैसे शर्म लगती है।

हमारा काम बच्चों से 'हाँ' कहलवाना नहीं है। बच्चे 'हाँ' भी कह सकते हैं और 'ना' भी। आज्ञा मान भी लें, और न भी मानें, लेकिन वह सब सकारण हो तभी चले। अगर बच्चे जबरन आज्ञा मानते हैं तो उसका कोई नैतिक मूल्य नहीं, यही नहीं, अपितु ऐसा करने से नैतिक अध:पतन होता है। फिर जबरन 'हाँ' कहलवाने से हम बच्चे को स्वमताग्रही बनने के मार्ग पर ले जाते हैं। यह बात ध्यान में रखते हुए शुरुआत में ऊपर वर्णित बच्चों पर 'हाँ' का प्रयोग करने की ज़रूरत है। प्रयोग करने पर पता लग जाएगा कि बच्चे का 'ना' करने का वास्तविक कारण क्या है? 'ना' को 'हाँ' कहलवाने की जरूरत थी या नहीं, अथवा उसकी 'ना' ही उसे मुबारक देने की इष्ट है या नहीं, आदि-आदि।

स्वाद चखे बिना ही इंकार करने वाले बच्चे को एक बार आग्रहपूर्वक स्वाद चखाएँगे तो वह आश्चर्यचकित हो जाएगा, सोच में पड़ जाएगा और यह प्रश्न वह अपने आपसे पूछेगा कि अब तक वह किस कारण से 'ना' बोल रहा था। अगर उसको वह पकवान भाता ही न हो और स्वाद चखने के बावजूद उसे अच्छा न लगे तो हम भी जान सकेंगे कि उसे अमुक चीज नहीं भाती। संगीत में न आने वाले बच्चे को संगीत का स्वाद चखाते ही अगर वह नींद लेने लगे तो उसके पीछे अकेली निडरता नहीं थी, अपितु संगीत के प्रति अरुचि थी, यही समझना चाहिए।

कितने ही अति नाज़ुक वृत्ति वाले बच्चों को पहले ही स्वाद में उल्टी जैसा लगेगा, उल्टी हो भी जाएगी, लेकिन अगर यह सब बाहरी आवरण मात्र होगा तो थोड़ी ही समय में उसके प्रति वह अभिमुख हो जाएगा। यही नहीं, उसमें अपनी निपुणता भी बताएगा।

कितने ही बच्चों में क्रियाशक्ति संस्कारित ही नहीं होती। उन्हें कुछ करना या न करना दोनों कठिन लगते हैं। इस कारण वे प्रत्येक काम करने से इंकार कर देते हैं। ऐसे बच्चों से ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए कि अमुक काम ही कराना है, परंतु उनकी क्रियाशक्ति का बल बढ़े, इसके लिए जिससे मुख्यत: क्रियाशक्ति का प्रयोग होने लगे, ऐसी कोई मनपसंद क्रिया करने का प्रबंध किया जाना चाहिए। जब उनमें क्रियाशक्ति आ जाएगी तो वे प्रत्येक काम करने लग जाएँगे।

अनेक बच्चे ऐसे होते हैं जो 'हाँ' या 'ना' बोलने में तुलनात्मक निर्णय ही नहीं कर सकते। उनसे 'हाँ' कहलवाने की ज़रूरत नहीं। उन्हें ऐसे कार्यों की ओर ले जाना चाहिए जिससे उनकी बौद्धिक-शक्ति का विकास हो। बौद्धिक-शक्ति बलवान होते ही वे स्वत: निश्चय कर लेंगे, तथा पहले निश्चय न कर पाने के कारण इंकार

कर बैठते थे, उसके बदले सोच-विचार कर 'हाँ' या 'ना' कहेंगे।

अब रहा ऐसे बच्चों का प्रश्न, जिन्हें मना करने में ही मज़ा आता है। वे सब कुछ जानते हैं, कर भी सकते हैं, फिर भी इंकार करने में एक तरह की अपनी होशियारी या शक्ति मानते हैं और इंकार करके भाग लेते हैं तथा स्वयं अपने मन में और दूसरों के सामने इसका बखान करते हैं। ऐसे बच्चे सचमुच बिगड़े हुए कहलाते हैं। ऐसे बालकों से तो 'हाँ' कहलवाना ही एकमात्र उपाय है। ऐसे बच्चों की 'ना' नहीं चलनी चाहिए। 'हाँ' कहलवाने में उनकी आज़ादी नहीं छिनेगी। भले ही वे मना करें, लेकिन उनसे उपयोगी व उत्कर्षशील कार्य कराए जाने चाहिए। जब एक बार उन्हें भरोसा हो जाएगा कि अब मनाही नहीं चलेगी तो वे 'हाँ' भरने लगेंगे, काम करेंगे और अब तक इंकार करने के कारण जो स्वस्थ काम का आनंद या मज़ा नहीं लिया, उसका अनुभव लेंगे। जैसे-जैसे उनके काम का आनंद, ज्ञान की खुशी और विकास का अनुभव बढ़ता जाए, वैसे-वैसे हमें उन पर दबाव कम करते जाना है। इस तरह थोड़े समय तक दबाव की दवा पिलाने के पश्चात् उन्हें निरोग खुराक ही देनी शेष रहेगी।

❑❑❑